

“सामंतवाद एवं दलितों का दमन”

डॉ० प्रमोद कुमार*

सामंतवाद एवं दलितों का दमन—सन् 1857 में अंग्रेजों ने भारत की सामंती शक्तियों पर पूर्णतः विजय हासिल करने के बाद भी सामंती रूप-रेखा को पूरी तरह नहीं मिटाया। बल्कि अंग्रेजों ने कुछ सामंती चरित्रों को रूपान्तरित रूप में बनाए रखा ताकि वे स्थानीय राजनीति को अपने काबू में रख सकें और शोषण की प्रक्रिया जारी रहे। साथ ही, भारतीय सामंत अंग्रेजी राज के प्रति वफादार भी रह सकें और यही हुआ भी। पूँजीवादी सभ्यता के उदगम के आभाव में हमारा समाज सामंती पहचानों जैसे— जाति, नस्ल भाषा, धर्म, झूठी शान, दिखलावा आदि से ग्रसित रहा है। इस अर्द्धसामंती ढाँचे में अधिकांशतः सवर्ण हिन्दुओं का वर्चस्व था जो कि आपसी झगड़े निपटाने के लिए तो न्यायालय की शरण लेते थे; लेकिन गैर-सामंती वर्ग पर अंग्रेजी शासन के आतंक की बदौलत अपना दबदबा और शोषण की प्रक्रिया को कायम रखे हुए थे। लेकिन आजादी के बाद अंग्रेजी शासन का आतंक जाता रहा, साथ ही जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन और आधे-अधूरे भूमि सुधार के कारण सामाजिक संरचना में कुछ परिवर्तन आया। सवर्ण सामंतों के दबदबे को कुछ झटका लगा। इनकी कुछ जमीन भी जातियों के सामंतों के हाथ लगी। ये लोग दखलदिहानी काश्तकार से अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार कर अर्द्धसामंत बन गए। चूँकि वोट की राजनीति में संख्या महत्वपूर्ण हो गयी, ये उच्च मध्य जाति के सामंत सत्ता अपनाने के करीब आ गए और इन्होंने गैर-उच्च जाति के सामंत (मुसलमान सामंत सहित) को गोलबन्द किया। उत्तर भारत में वोट की राजनीति के तहत सत्ता की लड़ाई के अन्तर्गत परम्परावाद अथवा सवर्ण सामंतों और गैर-उच्च जाति के सामंतों के बीच उठा-पटक चलती रही। चुनाव में मतदान केन्द्र लूटना, अन्य गैरकानूनी हथकण्डे अपनाना और हिंसात्मक प्रक्रिया इसी अर्द्धसामंती माहौल की परिचायक है। कहा जाता है कि बिहार में मतदान केन्द्र लूटने का सर्वप्रथम प्रयोग बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिन्हा को चुनावी दंगल में जिताने के उद्देश्य से कुछ आई. सी. एस. अधिकारियों के सुझाव पर किया गया था जो समय के साथ बढ़ता ही गया।

*असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग जितेन्द्र कुमार यादव कॉलेज, गया

इधर दतरशाही हिंसा सामंतों के पक्ष में भी बढ़ी, जिसमें फर्जी भिड़ंतों के तहत हत्याएँ होने लगीं। लेकिन जब यह काफी नहीं हुआ तब इस शासन प्रणाली ने सामंती सेना को प्रोत्साहन देना आरम्भ कर दिया। अतः हिंसा और प्रतिहिंसा का वातावरण और गहराता गया। बहुत सारे समाजशास्त्री एवं मानवशास्त्री इस तर्क के समर्थन में अक्सर सबूत पेश करते रहते हैं कि जड़वत् भारतीय समाज में काफी परिवर्तन किया। लेकिन अखबारों के माध्यम से भारत के विभिन्न प्रदेशों से जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनसे ऐसा लगता है कि अभी भी हमारे समाज में परम्परागत लोगों की बहुलता है तथा समाज में अभी काफी परिवर्तन आने बाकी है।

यह गौरतलब बात है कि यहाँ ऐसी अमानवीय घटनाएँ उस देश में घट रही हैं जहाँ के लोग यह दम्भ भरते हैं कि भारत विश्व का धर्मगुरु रहा है, भारत ने विश्व-बंधुत्व का नारा दिया है, भारत एक गौरवशाली संस्कृति का देश है, भारत कभी सोने की चिड़ियाँ रहा है आदि-आदि। यहाँ तक कि यहाँ गौ-हत्या के खिलाफ भी लोग क्रांति करते रहे हैं। कथनी और करनी में जितना विरोधाभास यहाँ देखने को मिलता है शायद ही उनता विरोधाभास किसी अन्य समाज में देखने को मिले। यह इस बात का सूचक है कि मनुवादी भारतीय समाज में अभी भी घोर परिवर्तन की आवश्यकता है।

भारतीय लोकतन्त्र का यह कितना दुर्भाग्य है कि आजादी की आधी शताब्दी से अधिक बीत जाने के बाद भी किसी व्यक्ति को सिर्फ इसलिए सताया जाता है, अपमानित होना पड़ता है क्योंकि वह दलित है। विगत कुछ वर्षों में हुई घटनाओं पर यदि हम नज़र डाले तो उससे यही साबित होता है कि अभी भी स्वतन्त्रता का लाभ सिर्फ मुट्ठी भर लोग उठा रहे हैं। इसके लाभ से वंचित रहनेवाले लोग मूलतः दलित और कमजोर वर्गों के हैं तथा एक किसी को जाति विशेष होने की वजह से अपमानित होना पड़ रहा है। ऊँच-नीच के सिद्धान्त पर आधारित हमारी सामाजिक संरचना ही इसकी एक मात्र कारण है। राजनीतिक रूप से लोकतन्त्र अपनाने के बाद भी सामाजिक-व्यावहारिक स्तर पर इसे बदलने में हम असफल रहे। क्योंकि राजनीतिक लोकतन्त्र तो विकसित होता गया पर समाज का ताना-बाना सामंती बना रहा। यह ऊँच-नीच की भावना पर आधारित है, यह समझदारी लोकतन्त्र के विरुद्ध है।

हम दलित आन्दोलन का विश्लेषण करें तो हम इसके तीन प्रमुख स्वरूपों में रेखांकित कर सकते हैं— सामाजिक/सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक। प्रथम शाखा में दलित समाज के लोगों ने हिन्दूवादी व्यवस्था में व्याप्त शोषण एवं तिरस्कार से बचने के लिए तथाकथित सवर्ण समाज के सांस्कृतिक चिन्हों को अपनाना शुरू कर दिया, जिसे एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की

संज्ञा दी (श्रीनिवास : 1966) तथा ओ. एम. लिन्च (1974) ने उत्तर प्रदेश में क्रमशः माधोपुर गाँव चमारों एवं आगरा शहर के जाटवों (चमारों) के बीच में अपने अलग-अलग अध्ययनों द्वारा भी उपर्युक्त तथ्य को सही ठहराया है।

दूसरा स्वरूप यह है कि दलितों ने अपनी मुक्ति हेतु धर्मान्तरण का रास्ता अपनाया। सर्वप्रथम दलितों ने अपने आपको हिन्दू धर्म से पृथक् घोषित करते हुए आदि हिन्दू, आदि-द्रविड़, आदि-आंध्र, आदि-धर्मी आन्दोलन की शुरुआत की (Omvedt, 1994) इस दौरान दलितों का मानना था कि वे भारत के मूलनिवासी हैं तथा आज के सवर्ण आर्य आक्रान्ता थे। यही नहीं बल्कि आर्यों ने शान्ति-प्रिय दलित शासकों को छल से पराजित कर यहाँ गैर-बराबरी की वर्ण एवं जाति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था लागू कर दी। अतः आज के दलित हिन्दू नहीं हैं। उनकी अपनी अलग बिरादरी है। आदि-अस्मिता के अलावा दलितों ने हिन्दू धर्म की वर्चस्वता को नकारते हुए इस्लाम, ईसाई सिक्ख एवं बौद्ध धर्म भी कबूल किया।

दलित आन्दोलन का तीसरा रास्ता था आधुनिक राजनीति में सीधी हिस्सेदारी की जो विशेषकर अंग्रेजों के भारत में आने के पश्चात् शुरु हुई। 1891 में बाबा साहेब आम्बेडकर के दलित आन्दोलन के क्षितिज पर उदय होने के पश्चात् से 1935 तक लगातार इस आन्दोलन की गति में बढ़ातरी ही होती रही (गारे : 1993:.)। अपने वैध राजनीतिक अधिकारों हेतु बाबा साहेब ने इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी तथा शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन जैसे राजनीतिक दलों की स्थापना भी की। 1935 में वयस्क मताधिकारी के आधार पर जब परतन्त्र भारत में 1937 में पहली बार चुनाव हुए तो दलित एक पृथक् राजनीतिक इकाई के रूप में सामने उभर कर आये। यह बाबा साहेब के अथम प्रयासों के कारण हुआ था। परन्तु राजनीतिक अधिकारों के स्थापित होते ही दलित आन्दोलन भी औपचारिक तौर पर विभाजित हो गया। कांग्रेस ने अपनी तरफ से राजनीति हेतु गाँधी को उतारा जिन्होंने पृथक् निर्वाचन के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन हेतु अपने प्राणों की भी बाजी लगा दी, और वे दलित आन्दोलन को बाँटने में सफल रहे।

आज़ादी के बाद जनतांत्रिक संविधान लागू हुआ। भारतीय समाज में दलितों हेतु अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार पहली बार प्रदत्त किए गए। अब दलित आन्दोलन अपने अधिकारों की पूर्ति हेतु संविधान में प्रदत्त अधिकारों का सहारा लेने लगा। दूसरी महत्वपूर्ण घटना इस समयान्तराल में यह हुई कि बाबा साहेब आम्बेडकर का साया दलित आन्दोलन से 1956 में उठ गया। अब आम्बेडकर द्वारा छोड़ी गयी धरोहर को आगे ले जाने की बारी आयी। दलित आन्दोलन पहली बार आम्बेडकर के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र होकर आगे बढ़ने का प्रयास करने लगा। लेकिन अफसोस कि आम्बेडकर के समकक्ष दलित नेता तथा

उसके बाद के नेता उनके कद के सामने इतने बौने साबित हुए कि वे दलित आन्दोलन के 'निराश्रित' रूप को कायम नहीं रख पाये। आर. पी. आई. एवं दलित पैथर्स ने जो कुछ कोशिश की वह भी कारगर साबित नहीं हुई और अन्त में 'निराश्रित' दलित आन्दोलन कांग्रेस द्वारा आत्मसात् कर लिया गया। परन्तु फिर भी बाबा साहेब आम्बेडकर के 'निराश्रित आन्दोलन' से दलितों में जो चेतना जागृत हो चुकी थी उसने ज़मीनी स्तर पर काम दिखाना शुरु कर दिया।

इतना ही नहीं दलितों पर दिनो-दिन बढ़ते अत्याचारों की घटनायें भी इस बात की प्रमाण हैं कि दलितों में चेतना बढ़ रही है और वे सवर्ण समाज द्वारा स्थापित मूल्यों को सहने के लिए तैयार नहीं हैं। अतः वे जहाँ भी हैं वहाँ पर उसका विरोध करने के लिए तत्पर हैं। और फिर शुरु है खूनी खेला। इस दशक के अर्ध में पहले के सापेक्ष 84.3 प्रतिशत अत्याचारों में बढ़ोत्तरी हुई। अत्याचारों का प्रकार भी बदला। आज़ादी से पहले दलितों पर धार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक अत्यचार ज्यादा होते थे, परन्तु बाद में यह भौतिक एवं हिंसात्मक होते गए।

दलित आन्दोलन को नया चोला पहनाने से पहले इसके पुराने चोले की सीमाओं का लेखा-जोखा ले-लेना चाहिये। दलित आन्दोलन अपने उद्गम से ही दलित समुदाय के प्रति जारी सवर्णों की घृणा, तिरस्कार, धिक्कार, छल-कपट से दलित के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक शोषण, मनुवादी संस्थाओं एवं उनके स्थापित मूल्यों और मान्यताओं की निन्दा तथा भर्त्सना करता रहा है जो आज भी जारी है। वैसे दलित आन्दोलन में यातना का बयान ही नहीं अपितु मुक्ति की छटपटाहट भी है। परन्तु अब वर्तमान समय में दलितों द्वारा बार-बार यातना के बखान की पुनरावृत्ति हो रही है।

स्वतन्त्रता और दलित—भारतीय दलितों की दासता राजनीतिक कम, सामाजिक ज्यादा है। सामाजिक दासता और सांस्कृतिक स्थितियाँ सोचनीय बनी हुई हैं। तनीजा देश की बड़ी संख्या निम्नतर जीवन-स्तर को जीती है, जिससे वह देश के युगीन विकास में अपना कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं कर पाती। दुनिया के उन्नत देशों के साथ स्पर्धा में देश पिछड़ने लगता है। फिलहाल हम देश के बाहरी दुश्मनों से अपनी रक्षा की बात कुछ जयादा ही सोचते रहते हैं। परन्तु देश भीतरी स्थितियों में भी स्वतन्त्र हो देश के हर नागरिक की कम-से-कम मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी हों, आवास शिक्षा-रोज़गार और अभिव्यक्ति का समान अधिकार उसे व्यवहार में मिलना चाहिए। इसे सैद्धान्तिक रूप से उपलब्ध करा देना काफी नहीं है, अपितु एक कल्याणकारी राज्य की जिम्मेदारी बनती है कि वह लोगों को अधिकार पाने योग्य बनाए।

भारतीय समाज की जातिगत संरचना कुछ इस तरह की बनी है कि यहाँ एक जाति दूसरी जाति के विकास को अपना ह्रास समझती है इसलिए अपने से नीचे पड़े देशबंधुओं को ऊपर उठाने में कोई दिलचस्पी नहीं है। 68 वर्ष गुज़र गए देश में सम्पूर्ण साक्षरता नहीं हो सकी। अज्ञान और अवैज्ञानिक रूढ़ियों में जकड़ी जनता सीमित परिवार के फायदे नहीं समझ पायी। दलित प्रतिनिधि सामान्य सीट्स से कम सुनकर आते हैं वे भी चूँकि पूरी तरह दलित मतों से जीतकर नहीं आते हैं इस कारण वे उन गैर-दलितों की रहनुमाई करने के लिए संसद व विधान-सभाओं में भेजे जाते हैं। डॉ० आम्बेडकर दूरदृष्टा थे उन्हें यह स्थिति 1932 में ही दिखाई दे रही थी, इसलिए उन्होंने स्वतन्त्र निर्वाचन की माँग के तहत परिकल्पना की थी कि दलित प्रतिनिधि का चुनाव केवल दलितों के मतों से ही होना चाहिए। ऐसा होने से वे अपने मतदाताओं के प्रति जवाबदेह रहेंगे। बरतानिया हुकूमत यह भी माननेवाली थी कि दलित प्रतिनिधि का न केवल दलित मतदाता चयन करेंगे, बल्कि वे सामान्य क्षेत्रों के गैर-दलित प्रतिनिधियों में भी अपने हितों-अहितों को ध्यान में रखकर वे सामान्य प्रतिनिधियों में भी अपना आंशिक प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेंगे। परन्तु स्वतन्त्र निर्वाचन तो छोड़िए अब दलितों में बड़ा हिस्सा अपने मतों का प्रयोग ही नहीं कर पाता। मतदान करने से वंचित रहने के कई कारण हैं। प्रमुख है अशिक्षा और राजनीतिक परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन के प्रति उदासीनता।

प्रगतिशील समाजवादी राजनीतिक दर्शन में सर्वहारा के नेतृत्व में क्रांतिकारी परिवर्तन होने की बात तो करते हैं, परन्तु यह दिलचस्प है कि वही तरक्की पसन्द लोग दलितों के किसी तरह के नेतृत्व को स्वीकार नहीं करते। वे न तो समाज में दलितों को मनुष्य के रूप में गरिमापूर्ण जीवन-यापन के पक्ष में होते हैं और न वे ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा साहित्य और मीडिया के किसी क्षेत्र में नेतृत्व के योग्य मानते हैं, जबकि बदलाव की जरूरत महसूस रखने के कारण बदहाली की यथास्थिति में रह रहे दलितों में नये समाज के निर्माण की स्वाभाविक सम्भावनाएँ मौजूद हैं। परन्तु दलितों के वे पैरोकार जो संख्या शक्ति को ही सबकुछ समझते हैं ध्यान देना चाहिए कि न केवल सवर्ण अपितु मुगलों और अंग्रेजों सहित शासक कौमों संख्या की दृष्टि से विशाल नहीं रही हैं। यह कहना उचित नहीं होगा कि स्वतन्त्रता के इन 68 वर्षों में दलितों के लिए किसी भी क्षेत्र में जगह नहीं मिली है। 1947 से आज तक राजकीय सेवाओं में जानेवाले दलित कर्मचारियों की संख्या लाखों में है। कालेज व विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाने वालों की संख्या भी काफी है। यह बात अलग है कि स्वायत्तशासी संस्थाओं में वैसा प्रतिनिधित्व नहीं है जैसा कि राजकीय आरक्षण नीति के तहत उपलब्ध हुआ है। यही कारण है कि निजी क्षेत्रों

और स्वायत्तशासी संस्थाओं को लोकतन्त्र की स्वास्थ्य परम्पराओं का बाहर नहीं माना जा सकता है। अब जब सरकारी नौकरियाँ सीमित कर दी गयीं और रोज़गारों के नये रास्ते खोले नहीं गए तो दलितों में भी शिक्षित बेरोजगारों की संख्या विस्फोट असंतोष के कगार पर है।

संदर्भ सूची

1. श्रीनिवास, एम०एन० : सोशल चेन्ज इन मॉडर्न इंडिया, ऑरिएट लौगमो लौगमैन, नई दिल्ली, 1966.
2. ओमवेदत, गैल : दलित एण्ड दि डेमोक्रेटिक रेवोलूशन : डॉ० अम्बेडकर एण्ड दि दलित मूवमेन्ट इन कोलोनीअल इंडिया, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1994.
3. गोरे, एम०एस० : दि सोशल कन्केस्ट ऑफ रेन आइडोलॉजी : अम्बेडर'स पॉलीटिकल एण्ड सोशल थॉट ए सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1993.
4. लिंच ए ओवेन एम : दि पॉलिटिक्स ऑफ अनच्वएबिलिटी ए केस फरोम आगरा, इंडिया, इन मिल्टन सिंगर एण्ड बी०एस० कोहन (इडस), स्ट्रक्चर एण्ड चेन्ज इन इंडियन सोसाइटी, ऐलडाइन पब्लिशिंग को०, शिकागो, 1968.

